

रागांग पद्धति का ऐतिहासिक विकास और उसका हिंदुस्तानी संगीत में महत्व

Dr Praveen Bhatia

Associate Professor (Music Instrumental)

RKMV Shimla

सार

रागांग पद्धति भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक महत्वपूर्ण संकल्पना है, जो रागों के वर्गीकरण और उनके भावात्मक तथा स्वरात्मक स्वरूप को स्पष्ट करने में सहायक होती है। 'रागांग' शब्द दो शब्दों—'राग' और 'अंग'—से मिलकर बना है, जिसका तात्पर्य है किसी मूल राग के विशिष्ट स्वर-संयोजन, चलन, पकड़ और भावात्मक गुणों को आधार बनाकर उससे संबंधित अन्य रागों की पहचान करना। यह पद्धति थाट प्रणाली से भिन्न है, क्योंकि इसमें केवल स्वरों की शुद्धता या क्रम ही नहीं, बल्कि राग की आत्मा और उसके विशिष्ट संगीतिक व्यवहार को प्रमुखता दी जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से रागांग पद्धति का विकास प्राचीन ग्रंथों में वर्णित जाति, ग्राम और मूर्छना जैसी अवधारणाओं से जुड़ा हुआ है। मध्यकाल में मतंग, शारंगदेव तथा बाद में लोचन पंडित जैसे संगीताचार्यों ने रागों की विशिष्टताओं को रेखांकित किया, जिससे रागांग की अवधारणा को वैचारिक आधार मिला। आधुनिक काल में पं. विष्णु नारायण भातखंडे और पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर जैसे विद्वानों ने रागों के व्यावहारिक स्वरूप को समझाने में रागांग दृष्टि को अप्रत्यक्ष रूप से सुदृढ़ किया, यद्यपि औपचारिक रूप से थाट पद्धति अधिक प्रचलित हुई। हिंदुस्तानी संगीत में रागांग पद्धति का महत्व इस बात में निहित है कि यह रागों के सौंदर्य, भाव और प्रस्तुति की मौलिकता को सुरक्षित रखती है। यह प्रणाली शिक्षण, राग पहचान, तथा रचनात्मक विस्तार में कलाकारों को गहन समझ प्रदान करती है। विशेष रूप से समान थाट के अंतर्गत आने वाले रागों के सूक्ष्म अंतर को समझने में रागांग पद्धति अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती है। इस प्रकार, रागांग पद्धति हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की परंपरा, शुद्धता और भावात्मक गहराई को बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

मुख्य शब्द: रागांग पद्धति, विकास, हिंदुस्तानी, संगीत

परिचय

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत रागात्मक परंपरा पर आधारित एक समृद्ध और सुदीर्घ सांस्कृतिक धरोहर है, जिसमें राग केवल स्वरों का समूह नहीं, बल्कि एक विशिष्ट भाव, समय, वातावरण और सौंदर्यबोध का संवाहक होता है। राग की इस सूक्ष्म और जीवंत प्रकृति को समझने तथा सुरक्षित रखने के लिए भारतीय संगीतशास्त्र में विभिन्न सैद्धांतिक पद्धतियाँ विकसित हुईं। इन्हीं में से एक महत्वपूर्ण और गहन पद्धति है रागांग पद्धति, जो रागों की आत्मा और उनके विशिष्ट संगीतिक व्यवहार को केंद्र में रखती है। रागांग पद्धति का मूल उद्देश्य रागों को उनके विशिष्ट

स्वर-चलन, पकड़, वादी-संवादी संबंध और भावात्मक अभिव्यक्ति के आधार पर समझना और वर्गीकृत करना है। इस पद्धति में किसी प्रमुख या मूल राग को “अंग” के रूप में स्वीकार कर उससे समान प्रवृत्ति वाले अन्य रागों की पहचान की जाती है। इस दृष्टि से रागांग पद्धति केवल सैद्धांतिक वर्गीकरण नहीं, बल्कि राग की प्रस्तुति, पहचान और सौंदर्य को समझने का एक व्यावहारिक माध्यम भी है। ऐतिहासिक रूप से भारतीय संगीत में राग की अवधारणा क्रमशः विकसित हुई है। प्राचीन काल की जाति प्रणाली, ग्राम और मूर्छना जैसी संकल्पनाओं से लेकर मध्यकालीन राग-रागिनी परंपरा तक, रागों की विशिष्ट पहचान पर निरंतर विचार होता रहा। इसी क्रम में रागांग जैसी अवधारणाएँ उभरकर सामने आईं, जिन्होंने राग की सूक्ष्मताओं को संरक्षित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आधुनिक काल में यद्यपि थाट पद्धति शिक्षण और वर्गीकरण के लिए अधिक प्रचलित हुई, फिर भी रागांग पद्धति राग की वास्तविक प्रकृति और भावात्मक सार को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक बनी रही। वर्तमान संदर्भ में, जब हिंदुस्तानी संगीत का शिक्षण संस्थागत ढाँचे में हो रहा है, रागांग पद्धति का महत्व और भी बढ़ जाता है। यह पद्धति विद्यार्थियों और साधकों को रागों के बीच के सूक्ष्म अंतर, उनके विशिष्ट सौंदर्य और प्रस्तुति की परंपरागत शुद्धता को समझने में सहायता प्रदान करती है। अतः रागांग पद्धति न केवल हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की ऐतिहासिक निरंतरता का प्रतीक है, बल्कि उसकी जीवंतता और गहराई को बनाए रखने का एक सशक्त माध्यम भी है। रागांग पद्धति हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की एक महत्वपूर्ण वैचारिक और व्यावहारिक प्रणाली है, जो रागों की पहचान और उनके सौंदर्यबोध को समझने में सहायक होती है। ‘रागांग’ का आशय किसी मूल या प्रमुख राग के विशिष्ट स्वर-संयोजन, चलन, पकड़ और भावात्मक गुणों से है, जिनके आधार पर उससे संबंधित अन्य रागों को समझा और वर्गीकृत किया जाता है। यह पद्धति राग को केवल स्वरों के ढाँचे के रूप में नहीं देखती, बल्कि उसकी आत्मा, भाव और प्रस्तुति शैली को केंद्र में रखती है, जो हिंदुस्तानी संगीत की मूल प्रकृति के अनुकूल है। रागांग पद्धति की जड़ें भारतीय संगीत की प्राचीन परंपरा में निहित हैं। वैदिक काल से लेकर नाट्यशास्त्र में वर्णित जाति, ग्राम और मूर्छना जैसी संकल्पनाएँ इस बात का संकेत देती हैं कि संगीत में स्वर-व्यवहार और भावात्मक अभिव्यक्ति को प्रारंभ से ही महत्व दिया गया था। इन अवधारणाओं ने आगे चलकर राग की विशिष्ट पहचान को स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त किया, जो बाद में रागांग जैसी प्रणालियों के विकास का आधार बनीं।

मध्यकालीन भारतीय संगीतशास्त्र में राग की अवधारणा अधिक स्पष्ट और विकसित हुई। मतंग मुनि और शारंगदेव जैसे आचार्यों ने रागों के स्वरूप, उनके चलन और भावात्मक विशेषताओं पर विस्तार से विचार किया। संगीत रत्नाकर जैसे ग्रंथों में रागों की पहचान केवल स्वरों तक सीमित न होकर उनके प्रयोग और प्रभाव से जोड़ी गई। इसी काल में राग-रागिनी परंपरा के माध्यम से रागों के व्यक्तित्व और भाव को महत्व मिला, जिसने रागांग दृष्टिकोण को और सुदृढ़ किया। आधुनिक काल में, विशेष रूप से उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में, रागों के व्यवस्थित अध्ययन और शिक्षण की आवश्यकता के चलते थाट पद्धति अधिक प्रचलित हुई। पं. विष्णु नारायण भातखंडे ने थाट प्रणाली के माध्यम से रागों का सुव्यवस्थित वर्गीकरण प्रस्तुत किया। यद्यपि थाट पद्धति शिक्षण की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हुई, फिर भी राग की वास्तविक प्रकृति, उसकी पकड़ और भाव को समझने में रागांग पद्धति की आवश्यकता बनी रही। व्यावहारिक संगीत में कलाकार आज भी रागों को रागांग दृष्टि से ही ग्रहण और प्रस्तुत करते हैं। हिंदुस्तानी संगीत में रागांग पद्धति का विशेष महत्व इस कारण है कि यह समान थाट में आने वाले रागों के बीच सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट करती है। उदाहरणस्वरूप, भैरव थाट के अंतर्गत आने वाले रागों में स्वर समान हो सकते हैं, किंतु उनके चलन, वादी-संवादी और भावात्मक अभिव्यक्ति भिन्न होती है। रागांग पद्धति इन भेदों को समझने और बनाए रखने में सहायता करती है, जिससे राग की शुद्धता और मौलिकता सुरक्षित रहती है। शिक्षण की दृष्टि से भी रागांग पद्धति अत्यंत उपयोगी है। यह विद्यार्थियों को राग को केवल आरोह-अवरोह तक सीमित न रखकर उसकी संगीतिक आत्मा को समझने के लिए प्रेरित करती है। गुरु-शिष्य परंपरा में राग की पहचान,

विस्तार और भाव-प्रस्तुति रागांग दृष्टिकोण पर ही आधारित रही है। समकालीन समय में, जब संगीत का अकादमिक अध्ययन बढ़ रहा है, रागांग पद्धति रागों की पारंपरिक गरिमा और गहराई को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। इस प्रकार, रागांग पद्धति न केवल हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के ऐतिहासिक विकास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, बल्कि वर्तमान और भविष्य में भी राग की शुद्धता, भावात्मक सौंदर्य और रचनात्मक स्वतंत्रता को संतुलित बनाए रखने का एक प्रभावी माध्यम है।



Fig 1 “रागांग पद्धति का ऐतिहासिक विकास और हिंदुस्तानी संगीत में उसका महत्व”

1. रागांग पद्धति की संकल्पना

रागांग पद्धति हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में रागों की गहन समझ विकसित करने की एक अत्यंत महत्वपूर्ण और मौलिक प्रणाली है। ‘रागांग’ शब्द का अर्थ है—किसी विशिष्ट राग का वह मूल “अंग” या विशेषता, जो उसकी पहचान को अन्य रागों से अलग करती है। इस पद्धति में राग को केवल सात स्वरों के एक निश्चित क्रम के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि उसके विशिष्ट स्वर-चलन, पकड़, वादी-संवादी संबंध, न्यास स्वर तथा भावात्मक प्रभाव को विशेष महत्व दिया जाता है। रागांग पद्धति के अनुसार, किसी प्रमुख या आदर्श राग के आधार पर उससे मिलते-जुलते अन्य रागों को समझा और वर्गीकृत किया जाता है। इस प्रकार यह प्रणाली राग की संगीतिक आत्मा

और सौंदर्य को केंद्र में रखकर उसकी पहचान सुनिश्चित करती है, जो हिंदुस्तानी संगीत की भावप्रधान प्रकृति के पूर्णतः अनुरूप है।

2. रागांग पद्धति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

रागांग पद्धति की ऐतिहासिक जड़ें भारतीय संगीत की अत्यंत प्राचीन परंपरा से जुड़ी हुई हैं। वैदिक काल से ही संगीत को भावात्मक और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का माध्यम माना गया है। नाट्यशास्त्र में वर्णित जाति, ग्राम और मूर्छना जैसी संकल्पनाएँ इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि संगीत में स्वर-व्यवहार, चलन और भाव को प्रारंभ से ही महत्व दिया गया। यद्यपि उस काल में 'रागांग' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था, फिर भी राग की विशिष्ट पहचान और उसके प्रभाव पर जो बल दिया गया, वही आगे चलकर रागांग पद्धति का सैद्धांतिक आधार बना। इस प्रकार रागांग पद्धति भारतीय संगीत के क्रमिक और स्वाभाविक विकास का परिणाम है।

3. मध्यकालीन संगीतशास्त्र में रागांग विचार

मध्यकाल में भारतीय संगीतशास्त्र ने अधिक परिपक्व और व्यवस्थित रूप धारण किया। मतंग मुनि ने अपने ग्रंथों में रागों के स्वरूप, चलन और भावात्मक प्रभाव पर विस्तार से विचार किया। शारंगदेव का संगीत रत्नाकर इस दिशा में एक मील का पत्थर माना जाता है, जिसमें राग की पहचान उसके स्वर-प्रयोग, संगीतिक व्यवहार और भावात्मक प्रभाव के आधार पर की गई है। इसी काल में राग-रागिनी परंपरा का विकास हुआ, जिसने रागों को मानवीय गुणों और भावों से जोड़कर प्रस्तुत किया। इस परंपरा ने राग के व्यक्तित्व और भावात्मक स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया, जिससे रागांग दृष्टिकोण को मजबूत वैचारिक आधार प्राप्त हुआ।

4. आधुनिक काल में रागांग पद्धति का विकास

आधुनिक काल में, विशेष रूप से उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में, संगीत शिक्षण को व्यवस्थित और वैज्ञानिक बनाने के प्रयास किए गए। पं. विष्णु नारायण भातखंडे द्वारा प्रतिपादित थाट पद्धति इसी उद्देश्य से विकसित हुई, जो रागों का स्वर-आधारित वर्गीकरण प्रस्तुत करती है। यद्यपि थाट पद्धति अकादमिक शिक्षण के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई, फिर भी इसमें राग के भाव, पकड़ और विशिष्ट चलन को पूर्ण रूप से समझाने की सीमाएँ रहीं। परिणामस्वरूप, व्यावहारिक संगीत में कलाकारों ने रागों की प्रस्तुति और पहचान के लिए रागांग दृष्टिकोण को बनाए रखा। इस प्रकार आधुनिक युग में भी रागांग पद्धति अप्रत्यक्ष रूप से जीवंत बनी रही।

पं० विष्णु दिगम्बर पलुष्कर जी के शिष्य श्री नारायण मोरेश्वर खरे जी ने प्रचलित रागों के अंगभूत टुकड़ों को चुना अथवा ऐसे प्रचलित रागों को खोजा जिनसे अन्य रागों का साम्य हो सके। इस प्रकार के रागों को एक वर्ग में रखकर 'रागांग' संज्ञा से सम्मानित किया गया तथा ऐसे रागांगों की संख्या तीस मानी गयी। इन्हीं रागांगों के राग वाचक स्वरों के आधार पर अन्य रागों के गायन-वादन का विधान ही इस वर्गीकरण की प्रमुख विशेषता है। ये तीस रागांग इस प्रकार हैं:-

1. कल्याण 2. बिलावल 3. खमाज
4. भैरव 5. काफी 6. मारवा
7. तोड़ी 8. पूर्वी 9. आसावरी
10. भैरवी 11. सारंग 12. ललित
13. भीमपलासी 14. श्री 15. विभास
16. प्ली 17. सोरठ 18. केदार
19. नट 20. कानड़ा 21. बागेश्वरी
22. शंकरा 23. हिंडोल 24. आसा
25. मल्हार 26. भूपाली 27. कामोद
28. भटियार 29. बिहाग 30. दुर्गा

इन्हीं 30 अंगों के अन्तर्गत समस्त रागों को वर्गीकृत किया गया।

भारतीय संगीत शास्त्र में भी तुलसी राम देवांगन ने रागांग पर एक अध्याय लिखा है जिनमें उन्होंने बताया कि उत्तर भारतीय संगीत में ऐसे अंग प्रमुख राग जिनके स्वतंत्र अंग सर्वमान्य है तथा जिनकी छाया या अंग प्रभाव दूसरे रागों में दिखायी देते हैं निम्नांकित हैं:-

1. विलावल अंग 2. काफी अंग 3. कल्याण अंग
4. धनाश्री अंग 5. सारंग अंग 6. कानड़ा अंग
7. मल्हार अंग 8. खमाज अंग 9. भैरव अंग
10. गौरी अंग 11. श्री अंग 12. तोड़ी अंग
13. मारवा अंग 14. भैरवी अंग 15. आसावरी अंग
16. पूर्वी अंग

5. रागांग पद्धति और थाट पद्धति में अंतर

रागांग पद्धति और थाट पद्धति के बीच मूलभूत अंतर उनके दृष्टिकोण में निहित है। थाट पद्धति रागों को केवल स्वरों की संरचना के आधार पर वर्गीकृत करती है, जिससे रागों का एक स्थूल ढाँचा प्राप्त होता है। इसके विपरीत, रागांग पद्धति राग के सूक्ष्म संगीतिक व्यवहार—जैसे विशिष्ट स्वर-संयोजन, पकड़, न्यास और भावात्मक अभिव्यक्ति—को प्रमुखता देती है। समान थाट के अंतर्गत आने वाले कई राग स्वर की दृष्टि से समान हो सकते हैं, किंतु उनके चलन और भाव में स्पष्ट अंतर होता है। रागांग पद्धति इन सूक्ष्म भेदों को स्पष्ट कर राग की वास्तविक पहचान स्थापित करती है।

6. हिंदुस्तानी संगीत में रागांग पद्धति का महत्व

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में रागांग पद्धति का महत्व अत्यंत व्यापक और व्यावहारिक है। यह पद्धति राग की शुद्धता, मौलिकता और भावात्मक सौंदर्य को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। कलाकार रागांग दृष्टिकोण के माध्यम से राग की वास्तविक प्रकृति को समझकर उसकी प्रस्तुति करता है, जिससे राग की पहचान स्पष्ट और प्रभावशाली बनती है। मंचीय प्रस्तुतियों में भी राग के भाव और व्यक्तित्व को उभारने में रागांग पद्धति मार्गदर्शक सिद्ध होती है। इस प्रकार यह प्रणाली हिंदुस्तानी संगीत की जीवंतता और गहराई को संरक्षित करती है।

7. संगीत शिक्षण में रागांग पद्धति की भूमिका

संगीत शिक्षण के क्षेत्र में रागांग पद्धति की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह विद्यार्थियों को राग को केवल आरोह-अवरोह और थाट तक सीमित न रखकर उसकी संगीतिक आत्मा से परिचित कराती है। राग की पकड़, विस्तार, आलाप और भाव-प्रस्तुति को समझने में यह पद्धति विशेष रूप से सहायक है। पारंपरिक गुरु-शिष्य परंपरा में रागांग दृष्टिकोण के माध्यम से ही राग की वास्तविक पहचान का संप्रेषण किया जाता रहा है। आधुनिक संस्थागत शिक्षा में भी यदि रागांग पद्धति को समुचित स्थान दिया जाए, तो यह विद्यार्थियों के लिए रागों की गहन और प्रामाणिक समझ विकसित करने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

तथ्य विश्लेषण

रागांग राग वर्गीकरण-

रागांग शब्द की उत्पत्ति के लिए यदि सर्वप्रथम पं० शारंगदेव रचित संगीत रत्नाकर का आश्रय लें तो हम पाते हैं कि देशी रागान्तर्गत वर्गीकरण में जिन रागों में ग्रामोक्त रागों की छाया होती थी इनके लिए रागांग शब्द प्रयोग हुआ है किन्तु ऐसा विदित होता है कि उससे पूर्व मतंग ने भी अपने समय में प्रचलित रागों के वर्गीकरण का प्रयत्न किया और इसी समय प्रथम बार "रागांग" शब्द का प्रयोग हुआ।

रागांग की परिभाषा पं० दामोदर ने इस प्रकार की है- "रागांग राग वे हैं जिनमें ग्राम राग की कुछ छाया मिले।" कल्लिनाथ के अनुसार- "रागांग राग वे हैं, जिसमें ग्राम रागों की छाया हो।" इससे कल्पना की जा सकती है कि एक मुख्य राग की छाया (किसी विशेष स्वर समुदाय द्वारा) भिन्न-भिन्न रागों में उपस्थित हो, तब उसे राग का रागांग कहा जाता होगा।

“Among the medieval Sanskrit authors on music, bhavabhatta is credited with giving a methodical clarification of rages according to ragang and be called it bheda”³

रागांग वर्गीकरण का प्रभाव मेल सिद्धान्त के अंतर्गत रागों को वर्गीकृत किये जाने के पश्चात् भी दिखायी देता है। पं० भातखण्डे एक मेल के अन्तर्गत अनेक रागांगों का समावेश करते हैं। उदाहरणार्थ काफी मेल के अंतर्गत उन्होंने काफी अंग, धनाश्री, अंग, कान्हड़ा अंग, सारंग अंग, मल्हार अंग के रागों के का स्पष्ट उल्लेख करते हुए समावेश किया। मेल राग वर्गीकरण पद्धति में भी इस वर्गीकरण का प्रबल प्रभाव इस वर्गीकरण की सशक्तता, अनिवार्यता एवं आवश्यकता का प्रतिपादक है। इस प्रबलता का मुख्य कारण यही है कि राग की सामान्य पहिचान तो स्वरों के द्वारा हो जाती है परन्तु सूक्ष्म पहिचान विशिष्ट स्वर समूहों के माध्यम से ही होती है। यही स्वर समूह प्रधान पहिचान 'रागांग' कहलाती है।

आधुनिक काल में हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में रागांग वर्गीकरण को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, कुछ आधुनिक विद्वान जैसे कृष्णधन बनर्जी तथा एस० एस० टैगोर ने भी इस पद्धति के महत्व को समझाया है।

रागांगों के आधार पर ही समान स्वर वाले रागों को पञ्चक पहचाना जा सकता है। (हिन्दुस्तानी संगीत में एक ही सप्तक से एक से अधिक रागों की उत्पत्ति होती है, जैसे भूपाली, देशकार, जैत कल्याण तथा शुद्ध कल्याण आदि। इन सभी में सा रे ग प ध स्वरावली प्रयुक्त होती है, किन्तु केवल रागांगों की सहायता से ही इन रागों को पञ्चक गाया बजाया जा सकता है। इस प्रकार अन्य कई समान स्वर के राग हैं, जिन्हें रागांगों से पञ्चक किया जाता है।

डॉ० जतिन्द्र सिंह खन्ना के अनुसार रागों का एक अंग हो सकता है किन्तु कुछ रागों का अंग एक प्रधान अंग के रूप में स्थापित हो चुका है और इस राग के साथ नाम तथा स्वरों की दर्पण से कुछ अन्य राग भी जुड़ गए हैं, जैसे एक राग मियाँ की तोड़ी है। इसके प्रधान अंग को तोड़ी अंग कहते हैं। यह राग की चलन तथा स्वर विस्तार से सम्बन्धित हैं। इसका प्रयोग जब भी कही होगा तो उसमें तोड़ी शब्द का प्रयोग होगा या तोड़ी अंग लगाया जायेगा।

जैसे गुर्जरी तोड़ी में तोड़ी शब्द भी आया है तथा तोड़ी के स्वर भी सम्मिलित हैं। इसी प्रकार विलासखानी तोड़ी में स्वर तो राग भैरवी के हैं परन्तु इसकी चलन तोड़ी के समान है। इसलिए यह तोड़ी का प्रकार है।

भातखण्डे की थाट पद्धति ही आधुनिक काल में प्रचलित है। पं० भातखण्डे ने वर्गीकरण पद्धति को सरल बनाने के लिए स्वर साम्यता के आधार पर समस्त प्रचलित रागों को 10 थाटों में बाँटा। किन्तु अत्यधिक सरल बनने के प्रयास में थाट संख्या बहुत कम हो गई। इस कारण नये रागों का समावेश इनमें न हो सका। ललित राग का उदाहरण ले सकते हैं। ललित में दोनों मध्यम लगते हैं ललित में शुद्ध मध् यम वादी स्वर है तथा यह मारवा थाट के अंतर्गत आता है जिसमें शुद्ध मध्यम लगता ही नहीं। इसी प्रकार वर्तमान प्रचलित राग मधुवंती, अहीर भैरव, पटदीप, चंद्रकौंस आदि रागों का समावेश 10 थाट पद्धति के अंतर्गत नहीं हो सकता।

रागांग राग वर्गीकरण पद्धति ही आधुनिक काल के उपयुक्त मानी जाती हैं किन्तु इस पद्धति का प्रारम्भ प्राचीन काल में ही हो गया था। शारंगदेव के काल में रागांग पद्धति को विशेष उत्थान प्राप्त हुआ। परन्तु उस समय की रागांग पद्धति तथा आधुनिक रागांग पद्धति में बहुत अन्तर है।

प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक रागांग वर्गीकरण भारतीय संगीत में अपने निम्नलिखित गुणों के कारण बरकरार रहा-

1. रागों का वास्तविक स्वरूप रागांग द्वारा ही व्यक्त होता है क्योंकि इस पद्धति में न केवल रागों में प्रयुक्त कोमल तथा तीव्र स्वर बताये जाते हैं बल्कि रागों में प्रयुक्त होने वाले स्वर समुदाय का भी उल्लेख रहता है।
2. किसी भी राग का सम्बन्ध किसी प्राचीन एवं सिद्ध राग से स्थापित हो जाता है।
3. जिस प्रकार थाट राग वर्गीकरण में नवीन रागों का समावेश नहीं हो पाता है ऐसी समस्या रागांग राग वर्गीकरण के साथ नहीं है क्योंकि कोई भी राग किसी न किसी अंग के अंतर्गत समाहित हो ही जाता है।

हम नव प्रचलित राग मधुवंती, अहीर भैरव, पटदीप, चंद्रकौंस का उदाहरण ले सकते हैं क्योंकि ये नव प्रचलित राग 10 थाट राग वर्गीकरण के अंतर्गत समाहित नहीं हो पाता है। जब कि किसी न किसी अंग में अवश्य समाहित हो जाता है।

थाट स्वरूप-

1 बिलावल सा, रे, ग, म, प, ध, नी।

2 कल्याण- सा, रे, ग, म, प, ध, नी।

- 3 खमाज- सा, रे, ग, म, ध, नी।
- 4 काफी सा, रे, ग, म, प, ध, नी।
- 5 मारवा - सा, रे, ग, म, प, ध, नी।
- 6 पूर्वी- सा, रे, ग, म, प, ध, नी।
- 7 आसावरी- सा, रे, ग, म, प, ध, नी।
- 8 भैरवी सा, रे, ग, म, प, ध, नी।
- 9 भैरव- सा, रे, ग, म, प, ध, नी।
- 10 तोड़ी- सा, रे, ग, म, प, ध, नी।

इन थाटों के आधार पर ही रागों का विभाजन हुआ। इस पद्धति में एक ही स्वर के दो रूप स्पष्ट नहीं किये गये। कुछ विद्वानों का कहना है कि थाटों की संख्या कम होने के कारण रागों का इस वर्ग में आना असम्भव सा प्रतीत होता है। कुछ रागों को जबरदस्ती ऐसे थाटों में रख दिया है, जिनसे वे साम्य ही नहीं रखते। जैसे मधुवंती राग, इसे तोड़ी थाट के अन्तर्गत रखा गया जबकि इसमें रे ध स्वर वर्जित है।

दूसरा ललित राग मारवा थाट से है, लेकिन इसमें दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है। इसलिए यह राग इस थाट में भी नहीं मानना चाहिए। भातखण्डे जी की थाट पद्धति का आधार स्वर साम्य है।

थाट के आश्रय राग के मुख्य स्वरूप की छाया उनके अन्य रागों में होना आवश्यक है इसलिए यदि ललित के सभी स्वर मारवा में न हो तो भी स्वरूप साम्य की दृष्टि से इसे मारवा थाट के अन्तर्गत रखना पूर्णतया गलत नहीं कहा जा सकता फिर भी मधुवंती जैसे राग किसी भी थाट में नहीं रखे जा सकते। इस प्रकार इस पद्धति में कुछ कमियाँ हैं, किन्तु राग वर्गीकरण की किसी स्वयं संपूर्ण पद्धति का अविष्कार अब तक न होने से थाट पद्धति का ग्रहण ही संगीतज्ञों के द्वारा होता है।

निष्कर्ष

रागांग पद्धति हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की रागात्मक परंपरा को समझने और संरक्षित करने की एक अत्यंत महत्वपूर्ण तथा व्यावहारिक प्रणाली है। यह पद्धति राग को केवल स्वरों के संयोजन के रूप में न देखकर उसके विशिष्ट चलन, पकड़, वादी-संवादी संबंध और भावात्मक अभिव्यक्ति को केंद्र में रखती है। इसी कारण रागांग दृष्टिकोण राग की वास्तविक पहचान और उसकी संगीतिक आत्मा को उजागर करने में सक्षम है, जो हिंदुस्तानी

संगीत की मूल भावना के अनुरूप है। ऐतिहासिक दृष्टि से रागांग पद्धति भारतीय संगीत के क्रमिक विकास का स्वाभाविक परिणाम है। प्राचीन काल की जाति, ग्राम और मूर्छना जैसी अवधारणाओं से लेकर मध्यकालीन राग-रागिनी परंपरा और आधुनिक युग की शास्त्रीय व्याख्याओं तक, राग की विशिष्टता और भावात्मक प्रभाव पर निरंतर बल दिया गया है। यद्यपि आधुनिक काल में थाट पद्धति ने रागों के शिक्षण और वर्गीकरण को सरल बनाया, फिर भी वह राग की सूक्ष्मताओं और भावात्मक गहराई को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाती। इस संदर्भ में रागांग पद्धति आज भी उतनी ही प्रासंगिक बनी हुई है। हिंदुस्तानी संगीत की प्रस्तुति, साधना और शिक्षण—तीनों क्षेत्रों में रागांग पद्धति का योगदान उल्लेखनीय है। यह कलाकार को राग की शुद्धता बनाए रखने, उसकी मौलिक पहचान को उभारने तथा भावपूर्ण अभिव्यक्ति प्रस्तुत करने में मार्गदर्शन प्रदान करती है। विद्यार्थियों के लिए भी यह पद्धति रागों के बीच के सूक्ष्म अंतर को समझने और संगीत की गहराई में प्रवेश करने का सशक्त माध्यम है। अतः यह कहा जा सकता है कि रागांग पद्धति हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की परंपरा, सौंदर्य और जीवंतता को बनाए रखने में एक अनिवार्य भूमिका निभाती है तथा भविष्य में भी इसकी प्रासंगिकता बनी रहेगी।

संदर्भ

1. शारंगदेव — संगीत रत्नाकर, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
2. मतंग मुनि — बृहद्देशी, संगीत कार्यालय, हाथरस।
3. भरतमुनि — नाट्यशास्त्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।
4. लोचन पंडित — रागतरंगिणी, संगीत कार्यालय, हाथरस।
5. पं. विष्णु नारायण भातखंडे — हिंदुस्तानी संगीत पद्धति (भाग 1-4), संगीत कार्यालय, हाथरस।
6. पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर — संगीत बालप्रकाश, गंधर्व महाविद्यालय प्रकाशन, मुंबई।
7. डॉ. प्रेमलता शर्मा — भारतीय संगीत का इतिहास, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
8. डॉ. अशोक दा. रानाडे — हिंदुस्तानी संगीत की संकल्पनाएँ, राष्ट्रीय संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली।
9. आर. सी. मेहता — भारतीय शास्त्रीय संगीत : सिद्धांत और व्यवहार, संगीत कार्यालय, हाथरस।
10. राष्ट्रीय संगीत नाटक अकादमी — भारतीय संगीत पर शोध लेख संग्रह, नई दिल्ली।